पुण्य : एक तात्त्विक विवेचन

—डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री

जीवन एक द्वन्द्व है। उस द्वन्द्व में दो विरोधी शक्तियाँ सक्रिय हैं—राग-विराग, पुण्य-पाप, शुभ-अशुभ, धर्म-अधर्म आदि। इन सबका सापेक्ष रूप से कथन किया जाता है, क्योंकि अपने आप में शुभ या अशुभ कुछ नहीं है। मनुष्य की वृत्तियाँ ही अपनी प्रवृत्तियों को शुभ-अशुभ कहकर निर्दिष्ट किया करती हैं। इसलिए इनको समझने के लिए नयों एवं सापेक्षता का ज्ञान आवश्यक है। जीवन की प्रत्येक क्रिया हमारे परिणामों से परिचालित होती है। भाव ही मनुष्य के पाप-पुण्य बन्ध के कारण तथा जीवन-मरण-मोक्ष के कारण हैं। पाप-पुण्य आदि जिन कर्मों के उदय से उत्पन्न होते हैं, व्यवहार नय से जीव उन शुभ-अशुभ कर्मों के उदय से होने वाले सुख-दुःख आदि का भोक्ता है। स्वामी कार्तिकेय का कथन है—

जीवो वि पावं अइ-तिव्व-कसाय-परिणदो णिच्चं।
जीवो वि हवइ पुण्णं उवसम-भावेण संजुत्तो॥

—स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा १९०

अर्थात् जब यह जीव अत्यन्त तीव्र कषाय रूप परिणमन करता है तब पापरूप होता है और जब उपशमभावरूप परिणमन करता है तब पुण्यरूप होता है। दूसरे शब्दों में, अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ और मिथ्यात्व आदि परिणामों से युक्त जीव पापी है, किन्तु औपशमिक सम्यक्त्व, औपशमिक चारित्र तथा क्षायिक सम्यक्त्व एवं क्षायिक चारित्ररूप परिणामों से युक्त पुण्यात्मा है।

जब यह जीव पूर्ण वीतराग हो जाता है तो पुण्य और पाप दोनों से रहित हो जाता है। इस प्रकार भावों के तीन भेद किये गये हैं—अशुभ, शुभ और शुद्ध। (पाप का ही दूसरा नाम अशुभ है और पुण्य का दूसरा नाम शुभ है तथा धर्म का दूसरा नाम शुद्ध है।) आचार्य कुन्दकुन्द के शब्दों में—

भावं तिविहपयारं सुहासुहं सुद्धमेव णायव्वं।
असुहं च अट्टरुद्दं सुहधम्मं जिणवरिंदेहिं॥ —भावपाहुड, ७६

अर्थात् जिनेन्द्रदेव ने भावों के तीन प्रकार कहे हैं—शुभ, अशुभ और शुद्ध। उनमें से आर्त्त-रौद्र ध्यान अशुभ हैं और धर्म-ध्यान शुभ है। शुद्ध भाव वाले तो सदा अपने शुद्ध स्वभाव में लीन रहते हैं।

पंडित जयचन्द्र जी छावड़ा 'भावपाहुड' की भाषावचनिका (गाथा ११८) में कहते हैं—

पूर्वे कह्या जिनवचन तैं पराङ्मुख मिथ्यात्व सहित जीव तिस तैं विपरीत कहिये जिन आज्ञा का श्रद्धानी सम्यग्दृष्टि जीव है सो विशुद्धभाव कूं प्राप्त भया शुभकर्म कूं बांधै है जातैं याकै सम्यक्त्व के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

माहात्म्य करि ऐसे उज्ज्वल भाव हैं ताकरि मिथ्यात्व की लार बन्ध होती पाप प्रकृतीनि का अभाव है, कदाचित् किंचित् कोई पाप प्रकृति बंधै है तिनिका अनुभाग मन्द होय है, कछू तीव्र पाप फल का दाता नांही तातैं सम्यग्दृष्टि शुभकर्म का ही बांधने वाला है। ऐसे शुभ-अशुभ कर्म के बन्ध का संक्षप करि विधान सर्वज्ञदेव नैं कह्या है सो जाननां।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि एक ही जीव काल-भेद से कभी पुण्यरूप परिणाम करने के कारण पुण्यात्मा और पापरूप परिणाम करने के कारण पापात्मा कहा जाता है। इससे यह भी स्पष्ट है कि सम्यग्दृष्टि जीव शुभ कर्म को करने वाला तथा शुभ भावों का आराधक होता है। क्योंकि जब जीव सम्यक्त्व सहित होता है तब तीव्र कषायों का समूल उन्मूलन हो जाता है और इसलिए वह पुण्यात्मा कहलाता है। अतएव पुण्य शुभ भाव है। शुभ भाव परम्परित मोक्ष का कारण कहा जाता है। शुभ भाव के बिना जीव शुद्ध दशा में नहीं पहुँच सकता। पुण्य एक ऐसी स्थिति है जिसमें पहुँचकर मनुष्य पाप की प्रवृत्ति की ओर उन्मुख हो सकता है और धर्म की वृत्ति में भी लग सकता है। इस कारण से पुण्य को समझना अत्यन्त आवश्यक है। पुण्य को ठीक से नहीं समझने के कारण आज अनेक पन्थ बन गये हैं। किन्तु वास्तविकता यह है कि लौकिकता में किसी सीमा तक पुण्य उपादेय है, किन्तु परमार्थ में हेय ही है। योगीन्द्रदेव का कथन है—

पावे णारेउ तिरिउ जिउ पुण्णे अमर विमाणु।
मिस्से माणुसगइ लहइ दोवि खये णिव्वाणु॥

अर्थात् पाप से जीव नरक और तिर्यंच गति में जाता है, पुण्य से देव होता है और पुण्य-पाप के मेल से मनुष्य होता है। जब पुण्य-पाप दोनों का क्षय कर देता है तब मोक्ष प्राप्त करता है।

पुण्य किसे कहते हैं?

'पुण्य' शब्द की व्युत्पत्ति है—'पुनातीति पुण्यम्'। जिससे आत्मा में उपशम भाव प्रकट होता है और जो आत्मा की शुद्धि का कारण है उसे पुण्य कहते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द जीव के शुभ परिणाम को 'पुण्य' कहते हैं। पुण्य और पाप दोनों ही जीव के साथ बने रहने वाले नित्य परिणामी नहीं हैं। किन्तु संसार की अच्छी या बुरी स्थिति इन दोनों परिणामों के बिना नहीं बन सकती। आचार्य कुन्दकुन्द के इस कथन की ओर तो सभी का ध्यान रहता ही है कि जिस जीव का राग प्रशस्त (शुभ) है, जिसके परिणामों में अनुकम्पा या दया है और जिसका मन मलिन नहीं है उसके पुण्य का आस्रव होता है। उनके ही शब्दों में—

रागो जस्स पसत्थो अणुकम्पा सहिदो य परिणामो।
चित्ते णत्थि कलुस्सं पुण्णं जीवस्स आसवदि॥ —पंचास्तिकाय, १३५

किन्तु यह कथन किसके लिए है इस पर प्रायः ध्यान नहीं देते। आचार्य कुन्दकुन्द स्वयं कहते हैं—

मिच्छत्तं अण्णाणं पावं पुण्णं चएवि तिविहेण।
मोणव्वएण जोई जोयत्थो जोयए अप्पा॥ —मोक्षपाहुड, २८

पं० जयचन्द जी छावड़ा अर्थ करते हुए कहते हैं—योगी ध्यानी मुनि है सो मिथ्यात्व अज्ञान पाप-पुण्य इनिकूं मन, वचन, काय करि छोड़ि मौनव्रत करि ध्यान विषैं तिष्ठ्या आतमा कूं ध्यावै है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यही बात 'पंचास्तिकाय' में भी स्पष्ट की गई है—

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व सव्वदव्वेसु।
णासवदि सुहं असुहं समसुह-दुक्खस्स भिक्खुस्स ॥ —पंचास्तिकाय १४२

अर्थात् जिस श्रमण (साधु) के सभी द्रव्यों में राग-द्वेष, मोह आदि विद्यमान नहीं होते उसके शुभ-अशुभ भावों का आस्रव भी नहीं होता।

संक्षेप में अध्यात्म ग्रन्थों में 'पुण्य-पाप' का वर्णन 'आस्रवाधिकार' में किया गया है और पुण्य-पाप का निषेध 'संवराधिकार' में किया गया है। इसी प्रकार से श्रमण साधुओं के लिए पुण्य-पाप समान रूप से बताया गया है। वास्तविकता भी यही है कि जो ध्यान, तप आदि में, शुद्धात्मानुभूति में लीन रहता है वह शुभ-अशुभ भावों के चक्कर में नहीं पड़ता। वह शुद्ध आत्मानुभव में रहने की ओर उन्मुख रहता है। किन्तु साधारण जनों की स्थिति उससे भिन्न होती है। अतः क्या पुण्य उनके लिए सर्वथा हेय हो सकता है, यह एक जटिल प्रश्न है ? इसका समाधान यह है कि प्रवृत्ति में किसी सीमा तक पुण्य उपादेय है; क्योंकि गुणस्थानों में ज्यों-ज्यों भूमिका के अनुसार जीव आगे बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों पुण्य-प्रकृतियाँ बढ़ती जाती हैं। किन्तु मोक्षमार्गी उनकी अभिलाषा नहीं करता है। उसकी दृष्टि में पुण्य सर्वथा हेय ही होता है। यदि ऐसा न हो तो वह उत्थान नहीं कर सकता।

क्या पुण्य सर्वथा हेय है ?

जो लोग यह कहते हैं कि पुण्य विष्ठा के समान त्याज्य है यह वास्तविकता में अतिशयोक्ति है। पाप और पुण्य बंध की दृष्टि से लोहे और सोने की बेड़ियाँ तो हैं पर वे समान कार्य करने वाली नहीं हैं। पुण्य तुच्छ नहीं है। क्योंकि सारे संसार की प्रवृत्ति अशुभ और शुभ पर आधारित है। जो प्रवृत्ति में भी उसे व्यर्थ समझते हैं, वे अपने जीवन को सुधारने में असमर्थ रहते हैं। जब पुण्य के प्रति हमारी वृत्ति उपेक्षित हो जाती है तब न हम शुद्धोपयोग में ही लग पाते हैं और न शुभोपयोग की वृत्ति जाग्रत हो पाती है। ऐसी स्थिति में केवल वाणी और चर्चा में हम शुद्ध उपयोग की बात करते हैं और व्यवहार में हमारा अधिकतर समय अशुभ कार्यों में व्यतीत होता है। आज के आत्मवादी लोगों का जीवन इसी प्रकार का दिखाई पड़ता है। वे पुण्य-पाप को सर्वथा हेय एवं विष्ठा के समान मानते हैं, पर पूर्वजन्म के पुण्योदय से जो वैभव उन्हें प्राप्त होता है उसका वे बराबर भोग करते हैं। इसका अर्थ तो यही है कि पुण्य के फल की चाह है और उसका उपयोग भी करते हैं। जो पुण्य का उपयोग करता है वह उससे विरत कैसे है ? यह जीवन की विडम्बना है कि कथनी में कुछ है और करनी में कुछ है। स्वानुभूति के गीत गाने से स्वानुभूति नहीं हो सकती। स्वानुभूति तो चारित्र गुण की पर्याय है। वह आत्मा की निराकुल, कषायविहीन एवं चारित्रगुण की शुद्ध अवस्था में प्रकट होती है। स्वानुभूति मतिज्ञान की पर्याय नहीं है। आचार्य गुणभद्र पुण्य का वर्णन करते हुए कहते हैं—

पुण्यं त्वया जिन विनेयविधेयमिष्टं
मत्यादिभिः परमनिर्वृतिसाधनत्वात्।
नैवामराखिलसुखं प्रति तच्च यस्माद्
बन्धप्रदं विषयनिष्ठमभीष्टघाति ॥ ७६/५५३ ॥

अर्थात् हे जिनेन्द्र ! आपने जिस पुण्य का उपदेश दिया है वही ज्ञान आदि के द्वारा परम निर्वाण का साधन होने से इष्ट है तथा भव्य जीवों के द्वारा साधने योग्य है। देवताओं के सभी सुख देने वाला

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो पुण्य है वह पुण्य नहीं है, क्योंकि उससे कर्मबन्ध होता है और जीव विषय-वासनाओं में उलझ जाता है तथा परमपुरुषार्थ मोक्ष से हट जाता है।

जो पुण्य को मिथ्यात्व कहकर उसका अनादर करते हैं वे वास्तव में भूल पर हैं। क्योंकि पुण्य मिथ्यात्व नहीं है। पुण्य के उदय से जो देवादिक के वैभव प्राप्त होते हैं उन वैभवों की आकांक्षा रखना और केवल इसलिए पुण्य को मोक्ष का कारण मानना मिथ्यात्व है। परन्तु 'पुण्यभाव मोक्ष का कारण है' ऐसा कथन करना व्यवहार है। क्योंकि पुण्य-पाप का भेद अघातिया कर्मों की दृष्टि से है, घातिया कर्म की अपेक्षा तो दोनों समान हैं। कषाय चाहे तीव्र हो अथवा मन्द हो वह कषाय ही है। 'समयसार' में भी अशुभकर्म को कुशील और शुभकर्म को सुशील कहा गया है। आचार्य कुन्दकुन्द के शब्दों में—

कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं ।
किह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि ॥ —समयसार, १४५

अर्थात् जो अशुभकर्म है वह तो निन्दनीय है, बुरा है इसलिए नहीं करने योग्य है। परन्तु शुभ कर्म पुण्यरूप है, सुहावना है, सुखदायक है इसलिए उपादेय है, यह कथन व्यवहार से है। परमार्थ से पुण्य और पाप दोनों संसार को बनाए रखने वाले हैं। अतएव कुशील और सुशील को एक ही वर्ग का कहा गया है। परन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं है। आचार्य श्री ज्ञानसागर जी इस का विशेष अर्थ स्पष्ट करते हुए कहते हैं—आचार्यदेव ने यह ग्रन्थ ऋषि, मुनि, योगी लोग जो कि एकान्त निराकुलता के ग्राहक होते हैं उन्हीं को लक्ष्य में लेकर लिखा है। इसलिए लिखते हैं कि है साधो! तुम लोगों के लिए जिस प्रकार चोरी करना, झूठ बोलना आदि कर्म हेय हैं, उसी प्रकार दान, पूजा आदि कर्म भी तुम्हारे लिए कर्त्तव्य नहीं हैं। क्योंकि उनको करते रहने पर भी निराकुलता प्राप्त नहीं हो सकती है। निराकुलता के लिए तो केवल आत्मनिर्भर होना पड़ेगा। इससे यदि कोई गृहस्थ भी अपने लिए ऐसा ही समझ ले तो या तो उसे गृहस्थाश्रम छोड़ देना होगा, नहीं तो यह मनमानी करके कुगति का पात्र बनेगा। अतः उसे तो चोरी-जारी आदि कुकर्म से दूर रहकर परिश्रमशीलता, परोपकार, दान, पूजा, आदि सत्कर्म करते हुए अपने गृहस्थ जीवन को निभाना चाहिए।

पं० बनारसीदास जी नाटक समयसार में कहते हैं—

मोह को विलास यह जगत को वास में तो, जगत सों शून्य पाप पुण्य अन्ध कूप है।
पाप किने कौन किये करे करिहै सो कौन, क्रिया को विचार सुपने की दौर धूप है ॥ ६१ ॥

एक और पं० बनारसीदास जी जहाँ पाप-पुण्य को अन्धकूप बतलाते हैं वहीं 'बनारसीविलास' में पुण्य का महत्व बतलाते हुए कहते हैं—

पूरव करम दहै सरवज्ञ पद लहै;
गहै पुण्यपंथ फिर पाप में न आवना।
करुना की कला जागै कठिन कषाय भागै,
लागै दान-शील-तप सफल सुहावना ॥
पावै भवसिंधु तट खोलै मोक्षद्वार पट,
शर्म साथ धर्म की धरा में करै भावना।
एतै सब काज करै अलख को अंग धरै,
चेरी चिदानन्द की अकेली एक भावना ॥ ८६ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार से पुण्य परम्परित मोक्ष का कारण है। सच्चे पुण्य को प्राप्त कर लेने के पश्चात् पाप में लौटकर नहीं आना पड़ता। इसलिए पं० आशाधर जी ने 'सागारधर्मामृत' में कहा है—

भावो हि पुण्याय मतः शुभः पापाय चाशुभः।
तं दुष्यन्तमतो रक्षेद्धीरः समयभक्तितः॥ —सागारधर्मामृत, ६५

पुण्य की यथार्थता

जैनधर्म का महत्व निर्दिष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रतिपादन किया है कि सभी धर्मरूपी रत्नों में जिनधर्म श्रेष्ठ है। उत्तम जैनधर्म में धर्म का स्वरूप इस प्रकार है—

पूयादिसु वयसहियं पुण्णं हि जिणेहिं सासणे भणियं।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो॥ --भावपाहुद्ध, ८३

अर्थात् जिनेन्द्रदेव ने जिनशासन में पूजादिक को तथा व्रतों को पुण्य कहा है और मोह, क्षोभ से रहित आत्मा का परिणाम धर्म बताया है। पंछित जयचन्द्र जी छावड़ा इस की व्याख्या करते हुए कहते हैं—जिनमत मैं जिन भगवान ऐसे कह्या है जो पूजादिक विषैं अर व्रतसहित होय सो तो पुण्य है, तहाँ पूजा अर आदि शब्द करि भक्ति-वन्दना, वैयावृत्य आदिक लेना। यह तो देव, गुरु, शास्त्र के अर्थि होय है बहुरि उपवास आदिक व्रत हैं जो शुभक्रिया हैं। इनि मैं आत्मा का राग सहित शुभ परिणाम है ताकरि पुण्यकर्म निपजे हैं तातैं इनि कूँ पुण्य कहे हैं, याका फल स्वर्गादिक भोग की प्राप्ति है। बहुरि मोह का क्षोभ रहित आत्मा का परिणाम लेणें, तहाँ मिथ्यात्व तो अतत्त्वार्थश्रद्धान है, बहुरि क्रोध, मान, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा ये छह तो द्वेष प्रकृति हैं, बहुरि माया, लोभ, हास्य, रति, पुरुष, स्त्री, नपुंसक ये तीन विकार ऐसे सात प्रकृति रागरूप हैं। इनिके निमित्त तैं आत्मा का ज्ञान, दर्शन स्वभाव विकार सहित क्षोभ रूप चलाचल व्याकुल होय है, यातैं इनिका विकारनि तैं रहित होय तब शुद्ध दर्शन ज्ञान रूप निश्चय होय सो आत्मा का धर्म है; इस धर्म तैं आत्मा के आगामी कर्म का तो आस्रव रुकि संवर होय है अर पूर्व बंधे कर्म तिनिकी निर्जरा होय है, संपूर्ण निर्जरा होय तब मोक्ष होय है; तथा एकदेश मोह के क्षोभ की हानि होय है तातैं शुभ परिणाम कूँ भी उपचार करि धर्म कहिये है, अर जे केवल शुभ परिणाम ही कूँ धर्म मांनि सन्तुष्ट हैं तिनिकैं धर्म की प्राप्ति नांही है, यह जिनमत का उपदेश है।

व्यवहार चारित्र : पुण्य

'अशुभ भावों से हटकर शुभ भावों में लगना' यह धर्म की प्रथम व्यावहारिक उत्थानिका है। आचार्य कुन्दकुन्द, नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने 'असुहादो विणिवित्ती, सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं' कह कर पुण्य को चारित्र रूप निरूपित किया है। 'चारित्तं खलु, धम्मो' चारित्र ही निश्चय से धर्म है। व्यवहार में भी चारित्र धर्म है और निश्चय में भी चारित्र धर्म है। अतः चारित्र धर्म है, इस में किसी को विवाद नहीं है। लोक में भी चरित्र से व्यक्ति परखा जाता है। 'सोना जानिए कसने से, आदमी जानिए बसने से।'

कैसा पुण्य उपादेय है ?

बिना श्रद्धान और ज्ञान के आचरण शुद्ध नहीं होता है। अतएव ज्ञानी के पुण्यमूलक कर्मों में तथा क्रियाओं में और अज्ञानी के कार्यों में महान अन्तर देखा जाता है। पुण्य की क्रियाओं को करते हुए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी पुण्य में तृष्णा नहीं होनी चाहिए। जिस प्रकार से एक मनुष्य बीमार हो जाने पर रोग तथा अशक्ति को दूर करने के लिए औषध का सेवन करता है और दूसरा काम-भोग-शक्ति बढ़ाने के लिए औषध-सेवन करता है, इन दोनों में अत्यन्त दृष्टि-भेद है। उसी प्रकार से अज्ञानी और ज्ञानी के पुण्य में बड़ा अन्तर है। स्वामी कार्तिकेय कहते हैं—

जो अहिलसेदि पुण्णं सकसाओ विसय-सोक्ख-तण्हाए।
दूरे तस्स विसोही विसोहि-मूलाणि पुण्याणि ॥ —कार्तिकेयानुप्रेक्षा ४११

अर्थात् जो कषायवान होकर विषय-सुख की तृष्णा से पुण्य की अभिलाषा करता है, उससे विशुद्धि दूर है और पुण्यकर्म का मूल विशुद्धि है।

साधुजनों को सम्बोधित करते हुए आगे कहा गया है—

पुण्णासाए ण पुण्णं जदो णिरीहस्स पुण्ण-संपत्ती।
इय जाणिऊण जइणो पुण्णे वि म आयरं कुणह ॥ —कार्तिकेयानुप्रेक्षा ४१२

अर्थात् पुण्य के आशय से जो पुण्य किया जाता है उससे पुण्य का बन्ध नहीं होता, किन्तु इच्छा रहित व्यक्ति को ही पुण्य की प्राप्ति होती है। यह जानकर योगियों को पुण्य में भी आदर भाव नहीं रहना चाहिए। जो भोगों की तृष्णा से पुण्य करता है उसे सातिशय पुण्य का बन्ध नहीं होता। निरतिशय पुण्य का बन्ध होने से वह सानुराग होकर भोगों का सेवन करता हुआ पुनः नरक आदि दुर्गति में चला आता है। इसलिए उसका निषेध किया गया है। परन्तु सातिशय पुण्य उपादेय है। जो मोक्ष-प्राप्ति की भावना से शुभ कर्मों को करता है वह मन्दकषायी होने से सातिशय पुण्य का बन्ध तो करता ही है, परम्परा से मोक्ष भी प्राप्त कर लेता है। अतएव विषय-सुख की चाह से पुण्य करना हेय कहा गया है; न कि पुण्य का एकान्त निषेध किया गया है। क्योंकि जीव-दया आदि जितने भी अहिंसामूलक भाव तथा कर्म हैं सभी में शुभ भावों को महत्त्व दिया गया है। आचरण की विशुद्धि के लिए श्रद्धान और ज्ञान की विशुद्धता सापेक्ष है। अतएव एकान्ततः पुण्य का सर्वथा निषेध करना जिनागम के अनुकूल नहीं है।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि पाप तथा पुण्य में भेद है, पाप से पुण्य में विशेषता है। इसलिए पाप छोड़ने का तथा पुण्य करने का उपदेश दिया जाता है। किन्तु यह भी निश्चित है कि मोक्षमार्ग में, परमार्थ की दृष्टि में पुण्य और पाप में कोई विशेषता नहीं है। क्योंकि पुण्य और पाप दोनों आस्रव के कारण हैं। यद्यपि त्याग को धर्म कहा जाता है, किन्तु त्याग का त्याग धर्म कैसे हो सकता है? यथार्थ में धर्म वस्तु-स्वभाव में है। अतः स्वभाव को छोड़कर विभाव में आना या स्वभाव का त्यागना धर्म नहीं है। त्याग तो विभाव का, कषाय का, इन्द्रिय विषय का तथा हिंसा का होना चाहिए। अहिंसा के त्याग को धर्म कैसे कहा जा सकता है? यदि भाव की दृष्टि से विचार किया जाए तो अशुद्ध भाव के त्याग को ही त्याग कहते हैं। शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के भाव अशुद्ध कहे गये हैं। व्रत में अशुभ भाव का त्याग होता है, किन्तु शुभ भाव का ग्रहण किया जाता है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह का त्याग व्रत है। आचार्य अमृतचन्द्र के शब्दों में—

धर्मेण परिणतात्मा यदि युद्धसंप्रयोगयुत्।
प्राप्नोति निर्वाणसुखं शुभोपयुक्तो वा स्वर्गसुखम् ॥

धर्म में परिणमित स्वरूप वाला आतमा यदि शुद्धोपयोग में युक्त हो तो मोक्षसुख को प्राप्त करता है और यदि शुभ उपयोग वाला हो तो स्वर्ग के सुख को (वन्ध दशा को) प्राप्त करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यथार्थ में जो पुण्य की वांछा करता है वह विषय-सुख का ही अभिलाषी है। जिसे लौकिक सुखाभासों में ही आनन्द आता है वही पुण्य को चाहता है और पुण्य की प्राप्ति से सांसारिक भोग-वैभव मिलता है। पुण्यकर्म जीव को राज्यादि देकर नरकादि दुःख उत्पन्न कराते हैं। इसलिये ज्ञानी पुरुष ऐसा कहते हैं कि पुण्य भी अच्छे नहीं हैं। कारण यह है कि निज शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न जो वीतराग परमानन्द अतीन्द्रिय सुख का अनुभव है उससे विपरीत जो देखे, सुने, भोगे जाते हैं उन इन्द्रियों के भोग की वांछा ही दुःखदायी है। फिर निदानपूर्वक विषय-सुख की अभिलाषा से किए गए दान, तप आदि से उपार्जित पुण्यकर्म हेय ही हैं। क्योंकि राज्य आदि की विभूति को प्राप्त कर अज्ञानी जीव विषय-भोगों को छोड़ नहीं सकता और उसका फल यह होता है कि रावण आदि की तरह वह नरकादिक के दुःख प्राप्त करता है।

श्रीमद् योगीन्द्रदेव के शब्दों में—

पुण्णेण होइ विहवो विहवेण मओ मएण मइ-मोहो।
मइ-मोहेण य पावं ता पुण्णं अम्ह मा होइ ॥ २६० ॥

पुण्य से धन की समृद्धि प्राप्त होती है जिससे अभिमान होता है और मान से बुद्धि-भ्रम होता है। बुद्धि के भ्रमित होने से अविवेकी के पाप होता है इसलिए ऐसा पुण्य हमारे न हो तो भला है।

पुण्य कर्म के क्षय का कारण नहीं है। यद्यपि आगम में ऐसा कहा है कि सम्यक्त्व सहित पुण्य का उदय भला है, सम्यग्दर्शन के सम्मुख होकर मरण को भी प्राप्त करे तो अच्छा है, किन्तु यह भी कहा गया है कि सम्यक्त्वी तीर्थंकरनाम प्रकृति आदि पुण्य प्रकृतियों को अवांछित वृत्ति से ग्रहण करता हुआ उनको त्यागने योग्य समझता है, उपादेय नहीं मानता है।

आचार्य अकलंकदेव कहते हैं कि घातिकर्मों का बन्ध भी शुभ परिणामों से होता है। जो शुभ परिणाम पुण्य का कारण है वह पाप का कारण भी हो सकता है। अतः ज्ञानी पुण्य को भी परिग्रह समझता है। इतना ही नहीं, समस्त शुभ कर्मों को भोगियों के भोग का मूल मानता है। केवल निज शुद्धात्मा या परमात्मा को ही उपादेय मानता है। कहा भी है—

सुकृतमपि समस्तं भोगिनां भोगमूलं
त्यजतु परमतत्त्वाभ्यासनिष्णातचित्तः।
उभय समयसारं सारतत्त्वस्वरूपं
भजतु भवविमुक्त्यै कोऽन दोषो मुनीशः ॥ —नियमसार कलश, ५६

संक्षेप में, इस विवेचन का सार यही है कि भूमिका के अनुसार श्रावक तथा श्रमण के पुण्य की प्रवृत्ति एवं शुभ परिणाम होते हैं, उनका निषेध नहीं किया गया है; किन्तु पुण्य करने लायक नहीं है, दृष्टि में सर्वथा हेय है और प्रवृत्ति में भी उपादेय नहीं है। यह अवश्य है कि पुरुषार्थ की अशक्यता होने से बाह्य प्रवृत्तियों में पर का अवलम्बन लेता है, किन्तु वह स्वावलम्बी जीवन का पथिक स्वावलम्बन के सिवाय अन्य किसी को इष्ट नहीं समझता है। □□

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org